THE TIMES OF INDIA

Date: 20-06-16

Don’t Torture The Dying

Health ministry’s draft law confuses between euthanasia and withdrawal of life support

The Constitution of India guarantees life with dignity as a fundamental right. Generally speaking, we enjoy this right. But it all changes if we get an incurable disease. Or when we eventually wither and die of old age. In those circumstances, we should still have the right to live the way we want to and die where we want to. But we find that we no longer have any choice.

An Economist study found that India was one of the worst 15 countries in the world to die in, coming 67th out of 80 in “quality of death”. In India, as we near the end of life, we cease to be treated as human beings and become mere containers of disease.

Until it is seen or experienced, it is not easy to understand the degree of assault on dignity by inappropriate medical treatment in incurable diseases. Typically, even if one is fully alert and able to take decisions for oneself, one finds oneself stripped of that privilege.

Whether it is advanced cancer or some other illness, the family takes over and makes decisions, and the “patient” is bundled into a hospital. There, in turn, the family loses control; hospital protocol takes over and transfers the patient to an intensive care unit.

In his last days, when one should be with the loving family with a gentle touch, one finds oneself isolated from dear ones when they are needed most. At a time when the deepest desire is to see a grandchild once more and to bestow a kiss on that cheek, one finds that children are not permitted into the holy intensive care unit.

The immediate family is allowed in for five minutes twice a day, but they are afraid to touch; the body is literally covered with cables; there are alarms screeching. Even when everyone knows that the patient is dying, a tube is inserted into every orifice in the body.

Among the many tubes, one is likely to be passing through the voice box into the wind pipe. These are some of the most sensitive parts of the body. A catheter periodically pushed into it to aspirate mucus is one of the most painful things one can experience – “like a red-hot iron pushed into you and twisted as it is withdrawn”, as one person described it. You have never known that such pain was possible; it is beyond the average person’s power of imagination.

When one feels a weariness of a degree that cannot even be imagined and longs for some peace to shut the eyes, it is prevented by a perpetually lighted room with no distinction between night and day (does that remind you of torture chambers?), with dozens of frightening beeps and screaming alarms, and weird masked creatures walking around.

Fear overcomes the person; there is an urge to know what is happening; but that tube in the voice box prevents speech, and no one bothers to give any information. When one panics and tries to pull out the tubes, the nurses bind the hands and feet. The right to life with dignity is violated in the cruellest way.

I am a doctor and have been an intensivist. I know very well that intensive care can dramatically save lives. But i also know that it is the most horrendous infliction of suffering and violation of human dignity in the context of incurable illness. We should be able to recognise that death is the inevitable consequence of life and that the person should be allowed to go with as much dignity as possible.

The government of India has prepared a draft law on the subject, available at the website of the ministry of health and family welfare. Its objective is to "protect" the terminally ill; to ensure life and death with dignity and to provide for palliative care as the humane, viable alternative to intensive care.

However, as drafted, the law confuses between euthanasia, which is wilful termination of life, and withdrawal of life support, which is only permitting natural death. Today, you have the privilege of leaving advance directives – which, in the absence of any existing law on the matter, has the backing of Medical Council of India. But this new draft law says that "every advance medical directive (called living will) or medical power of attorney executed by a person shall be void and of no effect and shall not be binding on any medical practitioner".

The implication of the draft law would be that when one is no longer competent to communicate decisions and the family decides to respect the person's expressed wishes to refuse life support measures like artificial ventilator, they will have to apply to the state high court. The draft law provides for 'quick' action by the division bench of the high court – in one month. One month. One month in which every moment is agony. One month, in the first week of which treatment costs in an intensive care unit would have impoverished the family and left them homeless.

This law is not really about them. This is about us – each one of us and our families. The new law threatens to violate our autonomy and dignity at the most vulnerable time of our lives. We must all protest and prevent it from coming into force.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 20-06-16

सरकारी बैंकों के लिए बज चुकी है चेतावनी की घंटी

सुबीर रॉय

केंद्रीय वित्त मंत्रालय और भारतीय रिजर्व बैंक ऐसे रास्ते तलाश रहे हैं जिनकी मदद से सरकारी बैंकों के प्रबंधन को इतना मजबूत किया जा सके कि वे भारी भरकम फंसे हुए कर्ज को पीछे छोड़ सकें। वित्त मंत्रालय बैंकों को ऐसे कानूनी अधिकार प्रदान करेगा जिनकी मदद से वे एनपीए से निपट सकेंगे। इसके अलावा बैंकरों को भी इस संबंध में संरक्षण दिया जाएगा। इस संबंध में आरबीआई ने बैंकों से कहा कि वे अपने एनपीए का सही आकलन पेश करें। इसके बाद अब वह इन बैंकों को पर्याप्त प्रोविजनिंग मुहैया कराने की राह तलाश कर रहा है। इस संबंध में एक उपाय ऐसा है जिस पर आधिकारिक तौर पर तो विचार नहीं किया गया है लेकिन जो अतीत में आंशिक तौर पर कामयाब हो चुका है।

यह तरीका है यथास्थिति। जब अर्थव्यवस्था की सेहत में सुधार होगा और कारोबारी जगत की किस्मत जागेगी तो एनपीए उतनी बड़ी समस्या नहीं रह जाएगा जितना कि वह अभी नजर आ रहा है। परंतु यहां एक समस्या है। अर्थव्यवस्था पहले ही उछाल पर है। अगर कारोबारी रुझान और निवेश लगातार तीसरे वर्ष 7 फीसदी की दर से बढ़ रही अर्थव्यवस्था की ओर भी आकर्षित नहीं होते हैं, वह भी तब जबकि शेष विश्व की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं है तो जाहिर है समस्या कहीं और है। संप्रग के पहले और दूसरे कार्यकाल, यहां तक कि राजग के पहले कार्यकाल के दौरान भी ऐसे वृद्धि अनुमानों ने कारोबारियों को उत्साह से भर दिया होता। या तो जीडीपी के आंकड़ों में कुछ गड़बड़ी है या फिर बैंकों के एनपीए की वजह कहीं और है। संभव है कि सरकारी बैंकों के प्रबंधन में कुछ ऐसी गड़बड़ी हो जिसकी बदौलत कोई भी हल अस्थायी साबित हो रहा है। मौजूदा उपाय एनपीए के मौजूदा आकार से संबंधित हैं, न कि उनके बढ़ते आकार से। समय बीतने के साथ यह बढ़ा हुआ एनपीए एक बार फिर व्यवस्था के समक्ष चुनौती बनेगा क्योंकि जिस तरह बैंक प्रबंधन चुना जा रहा है वह ठीक नहीं।

इन पदों पर नियुक्ति के लिए बड़े कारोबारी हितों वाले लोग लॉबीइंग करते हैं ताकि अपने उम्मीदवारों को इन पदों पर बिठा सकें। एक बार अगर ऐसा उम्मीदवार शीर्ष पर पहुंच गया तो उसके लिए बदला चुकाने का वक्त आ जाता है। दशकों से चल रही इस व्यवस्था ने ऐसी प्रबंधन संस्कृति विकसित कर

दी है जो पेशेवर नहीं है और जिसके तहत प्रबंधकों द्वारा लिए गए कड़े फैसलों को उनके वरिष्ठों का समर्थन नहीं मिलता। दरअसल ऐसे वरिष्ठ अपने करियर को संस्थान की सेहत पर तवज्जो देते हैं।

इसमें दो राय नहीं कि अपवाद हर जगह हैं। किसी भी वक्त भारतीय स्टेट बैंक का शीर्ष प्रबंधन अन्य सरकारी बैंकों से बेहतर ही मिलेगा। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के वक्त की राजनीतिक संस्कृति ने यह सुनिश्चित किया कि वित्त मंत्रालय इसकी निगरानी की एक रचनात्मक व्यवस्था कायम करे। प्रबंधन कौशल की गहराई और खुद के मूल्य भी बैंक ऑफ बड़ौदा जैसे संस्थान में अपवाद के रूप में सामने आते हैं। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि कई सरकारी बैंक जिन्हें कुछ दशक पहले तक विशिष्ट माना जाता था अब वे भी बाकी बैंकों जैसे ही हो गए हैं। कॉर्पोरेशन बैंक इसका उदाहरण है। यह सोचा भी नहीं जा सकता है कि निकट भविष्य में देश की राजनीतिक संस्कृति इस कदर बदल जाएगी कि सरकारी बैंकों का प्रबंधन पेशेवर रुख ले सकेगा। चूंकि चुनावों में बेहिसाबी धन का प्रयोग निरंतर हो रहा है और राज्य सरकारों के गिरने गिराने का सिलसिला चालू है तब तक यही कहा जा सकता है कि मौजूदा सत्ता प्रतिष्ठान के पिछली सरकार की बुराइयों को अंगीकृत करना केवल वक्त की बात है।

सरकार के लिए इकलौता तरीका यह है कि वह सरकारी बैंकों से बाहर निकल जाए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह तकनीकी तौर पर अपनी हिस्सेदारी को 51 फीसदी से कम कर दे। ऐसी स्थिति में अगर कोई चिह्नित प्रवर्तक प्रबंधन का स्वामित्व नहीं लेता है तो हालात खराब हो सकते हैं। वही राजनेता और नौकरशाह आधिकारिक निगरानी के अभाव में तब भी अपना काम जारी रखेंगे।

बैंकों के निजीकरण को लेकर कोई राजनीतिक सहमति मौजूदा सरकार के भीतर भी नहीं है, बाकियों की तो बात ही छोड़ दी जाए। ऐसे में आने वाले कुछ सालों तक एक अघोषित नीति यह हो सकती है चीजों को इस कदर बढ़ा दिया जाए कि बाद में उनके सही दाम न लेंगे। लेकिन इसमें भी संदेह है। बैंकों के पास अनुशंसा के लिए कुछ खास नहीं है। इकलौती चीज जिसे वे मूल्यवान कह सकते हैं वह है जमाकर्ताओं का आधार। डिजिटलीकृत और शाखारहित बैंकिंग के इस युग में शाखा नेटवर्क की विरासत का कोई अर्थ नहीं है।

शायद सरकारी क्षेत्र के बैंकों की राह की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि रिजर्व बैंक ने उनके पैरों तले से जमीन ही खींच ली है। भुगतान बैंक उनके भुगतान कारोबार पर बहुत बुरा असर डालेंगे। सबसे अहम बात यह है कि सरकारी बैंकों ने अपने उस दायरे का बहुत सीमित इस्तेमाल किया है जो उनके पास दशकों तक उपलब्ध रहा। यह काम था वित्तीय समावेशन का। छोटे ऋण देने में महारत रखने वाले छोटे बैंक यह काम भी उनसे छीन लेंगे। एक बार उनके काम में आ जाने के बाद सरकारी बैंकों की विकास संबंधी भूमिका का भी अंत हो जाएगा। ऐसे में सरकारी बैंकों के पास आखिर क्या काम बचेगा? बड़े और स्वस्थ कारोबारी घरानों को बड़े निवेश के लिए उनकी आवश्यकता नहीं है। अब मध्यस्थहीनता का दौर

है। बड़े कारोबारी घरानों को अतीत में बैंकों से जो मदद मिली है उसका जरिया बदल सकता है। इकलौता क्षेत्र जो इन बैंकों के पास बरकरार रहेगा वह है बड़ी बुनियादी परियोजनाएं जो मौजूदा एनपीए की समस्या की जड़ हैं। भले ही हमें यह अभी सुनाई न दे रहा हो लेकिन सरकारी बैंकों के लिए खतरे की घंटी बजने लगी है। सरकार के पास केवल एक विकल्प है कि वह जितने व्यवस्थित तरीके से संभव हो बाहर निकलने की योजना बनाए।

दैनिक जागरण

Date: 20-06-16

कूटनीतिक कौशल पर निगाह

एनएसजी की सदस्यता के लिए भारत के आवेदन और उससे संबंधित अड़चनों का विश्लेषण कर रहे हैं विवेक काटजू

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने भारत को परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह (एनएसजी) का हिस्सा बनाने को अपनी विदेश नीति की प्राथमिकता बना लिया है। उन्होंने भारत के पक्ष में माहौल बनाने का जिम्मा अपने मंत्रियों और कूटनीतिज्ञों को सौंपने के बजाय स्वयं ले लिया है। अपनी हाल की पांच देशों की यात्र के दौरान उन्होंने तीन देशों अमेरिका, स्विट्जरलैंड और मैक्सिको के राष्ट्राध्यक्षों के साथ वार्ता में न सिर्फ इस मुद्दे का जिक्र किया, बल्कि समर्थन भी हासिल किया।अब एनएसजी में सदस्यता के लिए अमेरिका भारत का न सिर्फ समर्थन कर रहा है, बल्कि उसके पक्ष में माहौल भी तैयार कर रहा है।

अमेरिकी विदेश मंत्री जॉन केरी ने एनएसजी के सभी सदस्य देशों को लिखा है कि भारत इसमें शामिल होने की सभी जरूरी योग्यता रखता है। दरअसल स्विट्जरलैंड और मैक्सिको पूर्व में भारत के परमाणु

अप्रसार संधि (एनपीटी) पर हस्ताक्षर नहीं करने को मुद्दा बना रहे थे, लेकिन मोदी उनका भी समर्थन हासिल करने में सफल रहे। हालांकि इसके बावजूद भारत की राह आसान नहीं है।

20-24 जून को दक्षिण कोरिया में एनएसजी की अगली बैठक में भारत को सदस्यता देने के मुद्दे पर चर्चा होगी और तब यह अवरोध खुलकर सामने आएगा, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से चीन और अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान नहीं चाहते कि भारत एनएसजी का सदस्य बने।

दरअसल एनएसजी 48 देशों का एक समूह है। यह समूह चाहता है कि असैन्य परमाणु कारोबार नियंत्रित हो ताकि परमाणु अप्रसार का उद्देश्य बरकरार रहे। ये देश एनपीटी के प्रति प्रतिबद्ध होते हैं, जिसे अंतरराष्ट्रीय परमाणु प्रणाली का आधार माना जाता है। भारत एनपीटी का सदस्य नहीं है, क्योंकि वह इसे भेदभावपूर्ण संधि मानता है।

भारत के मुताबिक एनपीटी पांच देशों-अमेरिका, रूस, चीन, ब्रिटेन और फ्रांस को परमाणु हथियार रखने की अनुमति देती है और इन देशों ने परमाणु हथियारों को त्यागने संबंधी संधि के वादों को अब तक पूरा नहीं किया है। भारत ने 1974 में परमाणु विस्फोट किया था। उसके बाद अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी देशों को लगा कि कुछ देशों द्वारा मिले ज्ञान और सामग्री का इस्तेमाल कर भारत ने परमाणु बम बनाया है।

उन्होंने इस सामग्री की आपूर्ति को प्रतिबंधित करने का निर्णय लिया और उसके उपरांत एनएसजी का गठन हुआ। इसने भारत को काफी नुकसान पहुंचाया, क्योंकि भारत के लिए परमाणु कार्यक्रम, अंतरिक्ष, रक्षा उद्योग और अन्य क्षेत्रों में उच्च तकनीक, सामग्री और उपकरणों को हासिल करना दुष्कर हो गया। इसकी वजह से न सिर्फ एनएसजी, बल्कि मिसाइल और रसायनों से संबंधित दूसरे समूहों द्वारा भी भारत पर प्रतिबंध लगाए जाते रहे। बावजूद इसके इतने सालों के दौरान भारत ने एक जिम्मेदार देश की छवि बरकरार रखी है।

भारत ने संवेदनशील सामग्री और तकनीक का प्रसार नहीं होने दिया, जबकि इसके विपरीत चीन और पाकिस्तान ने ऐसा होने दिया। 1भारत ने कई सालों तक अमेरिका और दूसरे देशों को इस बात के लिए राजी किया कि वे परमाणु तकनीकों तक उसकी पहुंच होने दें। 1998 के परमाणु परीक्षणों के बाद अमेरिका के साथ गंभीर बातचीत का दौर आरंभ हुआ।

भारत का उद्देश्य था कि उसे एक परमाणु शक्ति देश का दर्जा दिया जाए। 2005 में एक बड़ी सफलता तब मिली जब दोनों देशों ने असैन्य परमाणु करार के लिए चर्चा आरंभ की, जो कि अमेरिकी कंपनियों

को बिजली पैदा करने के लिए रिएक्टरों की आपूर्ति के जरिए भारत के असैन्य परमाणु कार्यक्रम में हिस्सा लेने की अनुमति प्रदान करने वाला था।

हालांकि इसके लिए अमेरिका को अपने कानून में बदलाव करना पड़ा और भारत को भी अमेरिका की ओर संदेह की नजरों से देखना बंद करना पड़ा। एक बार जब भारत-अमेरिका असैन्य परमाणु समझौता हो गया तब अगले कदम के रूप में भारत को अंतरराष्ट्रीय परमाणु व्यापार में हिस्सा लेने की अनुमति दी जानी थी, ताकि वह अपना असैन्य परमाणु कार्यक्रम चला सके। प्रतिबंधों के दायरे से बाहर आने के लिए जरूरी था कि एनएसजी अपने दिशा-निर्देशों से भारत को कुछ छूट प्रदान करे, लेकिन यह आसान नहीं था।

भारत द्वारा एनपीटी पर हस्ताक्षर नहीं करने के कारण कई देशों ने इसका विरोध किया। भारत यदि इस पर हस्ताक्षर करता तो उसे अपने परमाणु हथियार कार्यक्रम बंद करने पड़ते, जो कि सुरक्षा के लिए जरूरी हैं। आयरलैंड, ऑस्ट्रिया, न्यूजीलैंड, दक्षिण अफ्रीका और सबसे बढ़कर चीन के विरोध के बावजूद भारत के गंभीर कूटनीतिक प्रयासों के बाद 2008 में एनएसजी की ओर से भारत को वह छूट मिल गई जिसकी अपेक्षा की जा रही थी।

अब भारत ने एनएसजी की सदस्यता के लिए आवेदन दिया है। यह एक साहसिक, लेकिन जोखिम भरा कदम है, क्योंकि इसमें सफलता निश्चित नहीं है। वही देश खासकर चीन फिर से भारत का विरोध कर रहे हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें अब एक नया आयाम यह जुड़ गया है कि पाकिस्तान ने भी एनएसजी की सदस्या के लिए आवेदन कर दिया है। हालांकि अधिकांश देश पाकिस्तान के समर्थन में नहीं हैं, क्योंकि उसने परमाणु तकनीक का गोपनीय तरीके से प्रसार किया है।

पाकिस्तान और चीन एनएसजी के सदस्य देशों से आग्रह कर रहे हैं कि वे नए देशों को नियमों के अनुसार प्रवेश दें। चीन जोर देकर कह रहा है कि यदि भारत को एनएसजी में प्रवेश दे दिया जाता है और पाकिस्तान को बाहर रखा जाता है तो यह अनुचित होगा। इस प्रकार चीन का विरोध राजनीतिक है। उसकी रणनीति भारत को पाकिस्तान के बराबर दिखाना है और दुनिया के सामने यह साबित करना है कि चीन एक विश्व शक्ति है, जबकि भारत अभी एक क्षेत्रीय ताकत है। तुर्की भी पाकिस्तान का समर्थन कर रहा है।

हालांकि भारत-तुर्की संबंधों में सुधार हुआ है, लेकिन इसके बावजूद पाकिस्तान के साथ उसके रिश्ते बेहद मजबूत हैं। ऑस्ट्रिया और दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों को परमाणु अप्रसार संधि की चिंता है। उनके विरोध को भारत द्वारा दूर किया जाना चाहिए। यदि तुर्की और चीन भारत और पाकिस्तान को एनएसजी में एक ही साथ प्रवेश देना चाहते हैं तो यह भारत के लिए अच्छा नहीं होगा।

वैसे भारत ने संकेत दिया है कि यदि बाद में जब कभी भी पाकिस्तान एनएसजी की सदस्यता के लिए आवेदन करेगा तो वह राजनीतिक कारणों से उसका विरोध नहीं करेगा, लेकिन इसकी संभावना कम ही है कि भारत का यह रुख चीन और तुर्की का रवैया बदलने में कारगर हो सकेगा।

भारत ने चीन के साथ अपने संबंधों को सकारात्मक द्विपक्षीय कूटनीति के जरिए जीवित किया है। 23-24 जून को ताशकंद में एससीओ सम्मेलन बैठक के इतर मोदी और चीनी राष्ट्रपति शी चिनफिंग की मुलाकात की उम्मीद है। अगले कुछ दिनों तक सबकी नजर मोदी सरकार की कूटनीति पर रहेगी और जो भी परिणाम होगा उसका प्रभाव भारत की छवि पर पड़ेगा। हमेशा की तरह भारत की असली बाधा पाकिस्तान है, स्वयं के रूप में भी और दूसरे देशों के मोहरे के रूप में भी।

(लेखक विदेश सेवा में वरिष्ठ अधिकारी रहे हैं)

दैनिक भास्कर

Date: 20-06-16

अब गांव नहीं, शहरों के बारे में सोचने की जरूरत

अार. जगन्नाथन

भारत में गरीबी तेजी से क्यों नहीं घट रही? आजादी के 69 साल बाद भी देश में एक तिहाई लोग क्यों गरीबी रेखा से नीचे (वर्ल्ड बैंक की परिभाषा के मुताबिक रोज 1.25 डॉलर या करीब 84 रुपए कमाने वाले) जीने को मजबूर हैं? बेशक इसके पीछे कई कारण हैं। इसमें भ्रष्टाचार भी शामिल है, जहां गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रमों के तहत सरकारी खर्च की राशि असली लाभर्थियों के बजाय बिचौलियों के हाथों में जा रही है। देश में सिंचाई, ग्रामीण इन्फ्रास्ट्रक्चर, शिक्षा, हेल्थकेयर और जॉब स्किल बढ़ाने पर अपर्याप्त निवेश हुआ है। हालांकि इनमें से कुछ पहलू यूपीए और एनडीए के कार्यकाल में आधार से जुड़ी डायरेक्ट बेनिफिट ट्रांसफर (डीबीटी) स्कीम के तहत कवर हुए हैं। शिक्षा और स्किल बढ़ाने पर जोर दिया गया

है।

फिर भी ऐसा कोई नहीं कहेगा कि गरीबी इसलिए नहीं घट रही क्योंकि देश में शहरीकरण तेजी से नहीं हो रहा। इसकी वजह यह है कि 68 फीसदी भारतीय आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। इसलिए यह मानना तार्किक है कि पैसा गरीबी को घटाने में निवेश किया जाना चाहिए। शहर दूसरी प्राथमिकता होने चाहिए। लेकिन गरीबी उन्मूलन पर वर्ल्ड बैंक के एक अध्ययन में कहा गया है कि शहरीकरण से गरीबी कम होगी, न कि गांवाें की सोच से। 1991 से अब तक गरीबी में 80 फीसदी गिरावट, शहरीकरण बढ़ने के कारण देखने को मिली है। इससे शहरी गरीबी तो प्रत्यक्ष रूप से कम हुई है, लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि अप्रत्यक्ष तौर पर ग्रामीण गरीबी भी कम हुई है। यह संकेत करता है कि शहराें का बढ़ना देश में गरीबी उन्मूलन के लिए अच्छा है। शहरीकरण बड़ी आबादी को अपने में समाहित करने और अधिक उत्पादकता मुहैया कराने की क्षमता रखता है।

ग्रामीण गरीबी वास्तविकता है। किसानों की खुदकुशी के मामले हृदय विदारक हैं। लेकिन इनसे निपटने के उपायों पर विचारशील लोगों की राय राजनेताओं से उलट है। नेता कहते हैं कि ग्रामीण इलाकों के लिए गरीबी उन्मूलन की और योजनाएं लाई जानी चाहिए। वहीं, विचारशील लोगों का मानना है कि गांवों में रहने वाले गरीबों को सेफ्टी नेट के दायरे में लाया जाना चाहिए। सिंचाई और ग्रामीण इन्फ्रास्ट्रक्चर में सुधार किया जाना चाहिए। लेकिन सरकारी खर्च का हर एक अतिरिक्त रुपया शहरीकरण के लक्ष्य के साथ खर्च किया जाना चाहिए। हमारा भविष्य शहराें में छिपा है, न कि ग्रामीण इलाकों में।

गांधी के समय से अभी तक हम 'ग्रामीण जीवन आदर्श होता है' इसी भ्रम के साथ जीते आए हैं। डाॅ. बीआ‍ार आंबेडकर दलितों से जीवन स्तर सुधारने के लिए गांव छोड़कर शहरों का रुख करने के लिए कहा करते थे। यह एक उचित सलाह थी। हमारी राजनीति में ग्रामीण विचारों का प्रभाव इसलिए बना हुआ है क्योंकि वहां से नेताओं को बड़ी मात्रा में वोट मिल जाते हैं। इसलिए वह शहरों से शासन चलाने के बावजूद शहरों से मिलने वाले राजस्व को गांवों पर खर्च करते हैं, जहां ग्रोथ और रोजगार के अवसर बहुत कम होते हैं। ग्रामीण राजनेता मुंबई, बेंगलुरू जैसे शहरों में बैठकर रियल एस्टेट से पैसा बनाते हैं और शहरी में निवेश के लिए उपलब्ध पैसा गांवों पर खर्च करते हैं।

हकीकत यह है कि करीब 50 फीसदी भारतीय आबादी आमदनी के लिए कृषि पर निर्भर है, लेकिन जीडीपी में खेती की महज 15 फीसदी हिस्सेदारी है। यह आगे और कम हो सकती है। ऐसे में अधिक से अधिक ग्रामीणों को कृषि से निकालकर अर्ध-शहरी, शहरी या नौकरियों की ओर शिफ्ट करने की जरूरत है। कृषि उत्पादन में उस वक्त भारी इजाफा होगा जब इस पर कम लोग निर्भर रहेंगे। कृषि के मशीनीकरण, सिंचाई, बड़े क्षेत्र में खेती, बेहतर बीज और उर्वरकों में और निवेश करना संभव होगा। इससे खेती में रोजगार कम होने बावजूद उत्पादन बढ़ेगा।

भारत में गरीबी उन्मूलन की राह शहरी क्षेत्रों से निकलती है। देश की 32 फीसदी आबादी शहरों में रहती है। वर्ल्ड बैंक का कहना है कि देश की 55 फीसदी आबादी शहरों या इसके आसपास रहती है। शहरों के

आसपास के कुछ नगर कहलाते तो ग्रामीण हैं, लेकिन वास्तव में वह शहरों से सटे होने के कारण शहरों जैसी विशेषताओं के साथ फैल रहे हैं।

अब राजनेताओं को यह आंकड़ा जरूर इस्तेमाल करना ाहिए कि 55 फीसदी भारतीयों की सोच शहरी हो चुकी है। वे ऐसे आदर्श ग्रामीण जीवन की कल्पना कर खुश नहीं होंगे जहां कुछ ही लोगों को रोजगार मिलता हो, कम कृषि उत्पादकता के कारण किसान खुदकुशी करते हों। कुछ ही छोटे और मझोले किसान हैं जो चाहते हैं कि उनके बच्चे खेती करें। देश में तेजी से शहरीकरण हो रहा है। इसे और प्रोत्साहित करने की जरूरत है। शहरीकरण ही वह क्षेत्र है जहां राजनेताओं को निवेश करना होगा और यहीं रोजगार के जयादा अवसर पैदा करने होंगे। और हां, भारत को ऐसे राजनीतिक दलों की जरूरत है जो शहरों के बारे में सोचे न कि गांवों के बारे में।

लेखक आर्थिक मामलों के वरिष्ठ पत्रकार,'डीएनए' के एडिटर रह चुके हैं।